पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ७१

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

आचार्य वीरभद्र द्वारा विरचित

मातृकापदशृंगाररसकलितगाथाकोश

(हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

अनुवादक
श्री भँवरलालजी नाहटा

S
891.3
V 815 M

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṆASĪ-5

पुस्तक -- शृंगाररसकलित गाथाकोश
(हिन्दी अनुवाद सहित)

Library IIAS, Shimla
S 891.3 V 815 M
00094609

लेखक -- आचार्य वीरभद्र

अनुवादक -- श्री भँवरलालजी नाहटा
पं. विश्वनाथ पाठक

5
891.3
V815M

प्रकाशक -- पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त)
आई.टी.आई. के समीप, करौंदी
पोस्ट -- बी.एच.यू., वाराणसी-5 (उ.प्र.)
पिनकोड -- 221 005
फोन नं. -- 311462

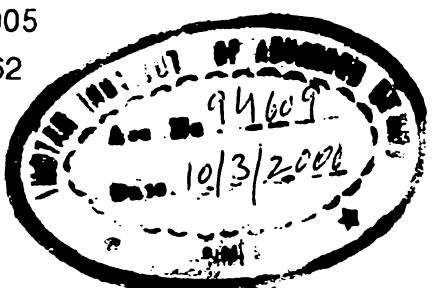

संस्करण प्रथम -- 1994
मूल्य -- पन्द्रह रुपये मात्र

SRINGARARASAKALITA GATHAKOSA

Translated by --

Sri Bhanwarlal Nahata
Pt. Vishvanath Pathak

Printed by --

Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Sodhpith
Varanasi-5

मुद्रक -- पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी-5

प्रकाशकीय

जैन परम्परा निवृत्तिमार्गीय रही है और यही कारण है कि जैन साहित्य में शृंगाररस की अपेक्षा शान्तरस (वैराग्य) को ही प्रमुखता प्राप्त है। फिर भी यह मान लेना कि जैन विद्वानों और लेखकों ने शृंगाररस की पूर्णतः उपेक्षा की है, भ्रान्त ही होगा। उन्होंने न केवल संस्कृत में अपितु प्राकृत एवं मरुगुर्जर में भी शृंगाररसपरक अनेक कृतियों का सृजन किया है। उनकी अनेक कृतियों में शृंगाररस का सरस वर्णन है, फिर भी कथा का उपसंहार सदैव ही शान्तरस में किया गया है। तथापि उनकी कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें विशुद्ध रूप से शृंगार का ही वर्णन है।

वीरभद्र कृत मातृकापद शृंगाररसकलित गाथाकोश नामक प्रस्तुत कृति विशुद्ध रूप से एक शृंगारपरक रचना है। वीरभद्र कृत इस गाथाकोश की विशेषता यह है कि इसमें मातृकापदों अर्थात् स्वर और व्यंजनों में से क्रमशः एक-एक को गाथा का आद्य अक्षर बनाकर शृंगारपरक गाथाओं की रचना की गयी है। इसमें कुल 40 गाथाएँ हैं। गाथाएँ शृंगारिक हैं, फिर भी वे मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करतीं। जहाँ मर्यादा से बाहर कोई संकेत करना होता है कवि उसे अपने मौन से ही सूचित कर देता है जैसे इस गाथाकोश के अन्त में कवि कहता है-- "पच्छा जं तं उ वित्तं अकहकहा कह कहिज्जन्ति" अर्थात् उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह अकथनीय है कैसे कहा जाय ? इस प्रकार मूक भाव से भी कथ्य को अभिव्यक्ति दे देना, यह कवि की सम्प्रेषणशीलता का स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि "काम" जन-साधारण के जीवन का एक अपरिहार्य अंग है फिर भी मनुष्य की विशेषता इसी में है कि वह इस पर संयम का अंकुश रखे। जैन आचार्यों की यह विशेषता रही है कि दो-चार कृतियों को छोड़कर उन्होंने शृंगार की अभिव्यक्ति में भी सदैव ही एक मर्यादा का अनुपालन किया है।

आदरणीय श्री भँवरलालजी नाहटा ने हमें प्रकाशन हेतु न केवल इस महत्त्वपूर्ण कृति की मूलप्रति उपलब्ध करवायी, अपितु उसका लिप्यन्तरण करके अनुवाद और भूमिका सहित हमें भेजा। मूल हस्तप्रत को देखने पर हमें यह लगा कि इसमें सम्पादन की अपेक्षा है किन्तु दूसरी हस्तप्रत उपलब्ध न होने के कारण अर्थ की संगति की दृष्टि से हमने जो भी संशोधन किया वह स्वबुद्धि के आधार पर ही किया है। फिर भी इतना प्रयास अवश्य किया है कि मूल गाथाओं में कोई विशेष परिवर्तन किये बिना ही वे बोधगम्य बन सकें। साथ ही आदरणीय श्री नाहटाजी से जो हमें अनुवाद प्राप्त हुआ था, उसमें भी पर्याप्त संशोधन की अपेक्षा थी। इसलिए हमने पं. विश्वनाथजी पाठक से निवेदन किया और उन्होंने नाहटाजी के अनुवाद का उपयोग करते हुए उसे यथास्थान परिवर्तित और संशोधित किया है। विद्वत्-वर्ग नाहटाजी का विशेष रूप से इसलिए भी आभारी रहेगा कि यदि उनके द्वारा मूलहस्तप्रति की फोटो कापी तथा मूल गाथाओं के लिप्यन्तरण सहित अनुवाद न उपलब्ध हुआ होता तो सम्भवतः यह कृति प्रकाश में ही नहीं

आ पाती। आदरणीय नाहटाजी को जैन कृतियों और जैन इतिहास का जो विशाल ज्ञान है वह श्लाघनीय है। उन्होंने इसकी भूमिका में जैन आचार्यों ने कौन-कौन सी शृंगारपरक रचना लिखी है और वे कहाँ उपलब्ध हैं इसकी जानकारी भी दी है। इस अवस्था में भी वे जो जैन साहित्य की जो सेवा कर रहे हैं वह अभिनन्दनीय है। उनकी भूमिका और मूल गाथाओं को मैंने अपनी क्षमता क अनुरूप संशोधित और सम्पादित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु मेरे ज्ञान की भी सीमाएँ हैं। विद्वानों से अपेक्षा है कि यदि इसमें त्रुटियाँ रही हों तो उन्हें सूचित करें ताकि भविष्य में उन्हें सुधारा जा सके। अनुवाद-संशोधन के लिए पं विश्वनाथजी पाठक के प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है।

कृति के प्रूफ संशोधन में हमें डॉ. अशोक कुमार सिंह और श्री असीम मिश्रा का सहयोग प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार इस कृति को कम्पोज करने का कार्य श्री बृजेश श्रीवास्तव ने किया। मैं इन सबके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस कृति का समुचित मूल्यांकन कर कृति की मूल्यवत्ता से हमें अवगत करें।

प्रो. सागरमल जैन

9/6/1994
वाराणसी।

शृंगाररस गाथा कोश

भूमिका

- भँवरलालजी नाहटा

शृंगाररस और जैनधर्म

संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध सूक्त वचन है -- "रसो वै सः।" परमात्मा रस रूप है। वह रस के माध्यम से ही पाया जा सकता है, इसलिये रस ही सार है -- रस ही तत्त्व है। इतिहास पर अगर नजर डाली जाये तो परमात्मा को पाने के जितने भी मार्ग हैं, उन सभी में रसों को महत्त्व मिला है। आदिनाथ और महावीर में जहाँ वैराग्य रस के सहारे परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ श्रीकृष्ण का परमात्मस्वरूप शृंगार रस में ही निखरा है। उसमें भी राधा का संयोग शृंगार है तो मीरा का वियोग। इस प्रकार वैराग्य और शृंगार दोनों ही रसों को अपनी-अपनी परम्परा में वरीयता प्राप्त है।

श्रमण संस्कृति वैराग्य प्रधान रही और राधा-कृष्ण की उपासना का भक्ति-मार्ग शृंगार प्रधान रहा। इन दोनों ही रसों में व्यापक साहित्य रचा गया। यह भी निःसन्देह कहा जा सकता है कि साहित्य-सृजन की दृष्टि से दोनों ही धाराओं का एक-दूसरे पर प्रभाव रहा है। राधा-कृष्ण की परम्परा में जहाँ कहीं-कहीं कृष्ण के वैराग्यमय स्वरूप का वर्णन है, वहाँ जैन परम्परा में नेमि-राजुल, स्थूलिभद्र-कोशा इन दोनों ही कथाओं के घटना क्रमों में जमकर शृंगार रस का प्रयोग किया गया है। फिर भी चाहे संयोग शृंगार रस हो या वियोग शृंगार, जैन साहित्यकारों ने शृंगार का अन्तिम चरण वैराग्य में ही मोड़ा है। हालांकि ऐसा कोई रस नहीं है जो जैन साहित्यकारों की लेखनी से निःसृत न हुआ हो। कथाओं में जहाँ युद्ध के माध्यम से वीररस को उद्दीप्त किया गया, वहीं भूत-प्रेतों के सहारे रौद्र रस को। राज-परिवारों की कथा कहते हुए कथा के प्रारम्भ और मध्य में शृंगार रस को भी निष्पन्द किया गया। फिर भी कथा का उपसहार प्रायः वैराग्य/शान्त रस में ही हुआ है। इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्यकारों ने वैराग्य रस को प्रमुखता देते हुए भी सभी रसों को अपने साहित्य में अनुस्यूत किया है।

यदि सृष्टि-चक्र के आदिकाल की ओर नजर डालें तो तीर्थंकर आदिनाथ इस अवसर्पिणी काल के ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने जीवन के समस्त पक्षों -- चाहे वह शिक्षा हो या कला, हर क्षेत्र में मानव-संस्कृति को आगे बढ़ाया। जैन मान्यतानुसार तीर्थंकर ऋषभदेव ने चार ऐसे पुरुषार्थों की स्थापना की, जिन्हें रस का आदिरूप कहा जाता है, वे हैं -- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चारों ही जीवन के उपादेय अंग माने गये हैं, जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति ने भी स्वीकार किया है और श्रमण संस्कृति ने भी। जैन परम्परा में संघ को चतुर्विध रूप दिया गया, जिन्हें श्रमण, श्रमणी और श्रावक, श्राविका कहा गया। श्रमण और श्रमणी उन्हें कहा जाता है, जो गृह

त्यागकर मोक्ष मार्ग पर आरूढ होते हैं। श्रमण अर्थात् साधु, श्रमणी अर्थात् साध्वी। जैन गृहस्थ को श्रावक और स्त्री को श्राविका कहा जाता है। जैन गृहस्थ-धर्म में भी भोग की सभी प्रवृत्तियों को मर्यादित और त्यागपूर्ण बनाया गया है। वह देशविरति है तो श्रमण जीवन सर्वविरति पर इतना कुछ होते हुए भी उन्होंने निर्लिप्त भाव से साहित्य के सभी अंगों का सृजन किया। गृहवास से मुक्त होने पर भी जैन मुनियों ने अपने साहित्य में छंद, अलंकार, रस इन सभी का साहित्यिक मर्यादा के अनुरूप वर्णन किया है। अपने साहित्य में उन्होंने चाहे शृंगार रस का प्रयोग किया हो या वीर रस का, इनका प्रयोग साहित्यिक मर्यादा का पालन करने के लिये ही किया गया। यदि ये रस सर्वथा अस्पृष्ट रहते, तो इनका साहित्य अपूर्ण रह जाता। "योगः कर्मशुकौशल्यम्" सभी कलाओं में निपुणता ही योग है। नाट्यशास्त्र और काव्यालंकार में शृंगार रस को प्रधान माना गया है। फिर भी सूत्रकार ने शृंगार की व्याख्या में इसे रति का कारणभूत, रमणी आदि की अभिलाषा का कारण और विषयों की ओर मोड़ने वाला रस माना है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भी शृंगार को "रतिप्रभव" कहा है। अनुयोगद्वारसूत्र में इसे "रति संजोगाभिलास संजणणे" कहा गया है। नाट्यशास्त्र में शृगार के संयोग और विप्रलंभ दो प्रकार बतलाये गये हैं, जबकि "अनुयोगद्वार" के कर्ता का उद्देश्य साधुओं को बोध देने का होने से शृंगार की विस्तृत व्याख्या में न जाकर केवल लक्षण लिखकर उसे धिक्कारा है। मुनियों के लिए शृंगार रस को त्याज्य और मोक्ष रूपी घर की अर्गला कहा है। अतः मुनियों के लिये इस रस का सेवन निषिद्ध है।

भगवान की स्तुति में भक्त, देव, गंधर्व और अप्सराओं के नृत्य, गीत, स्वर, देह, स्तन आदि अन्य उपांगों का वर्णन भी जैन साहित्यकारों ने निर्लिप्त भावों से ही किया था। इन सब का वर्णन करते समय उनका ध्येय रचना को सरस बना ही रहा है।

अजितशान्तिस्तोत्र जैन साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके कर्त्ता नन्दिषेण मुनि अति प्राचीन हैं। वे भगवान महावीर के शिष्य कहे जाते हैं। प्राकृत भाषा में रचित इस कृति में छंद, अलंकार और रस सभी साहित्यिक पक्षों का रुचिर प्रयोग किया गया है। इसमें लगभग 40 छन्दों में अजितनाथ और शान्तिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। कहा जाता है कि वे शत्रुंजय तीर्थ पर गये थे। जहाँ श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर आमने-सामने थे। एक ओर भगवान के सम्मुख हों तो दूसरी ओर पीठ आ जाय, अतः बीच में दोनों ओर लक्ष्य कर दोनों की संयुक्त स्तवना की, जिससे दोनों मन्दिर दैवी प्रभाव से बराबर सामने आ गये। यह चमत्कार जो भी हो, पर इस स्तोत्र की संरचना सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। इसमें अपरान्तिका, आलिंगालक, किसलयमाला, कुसुमलता, क्षिप्तक, खिद्यतक, गाथा, चित्रलेखा, चित्राक्षरा, दीपक, नन्दितक, रासालुब्धक, ललितक, वानवासिका, विद्युतरवित्वसित, वेष्टक, श्लोक, संगतक, सुमुरक और सोपानक छंदों का उपयोग किया है। सुलतान मुहम्मदतुगलक प्रतिबोधक महान् प्रभावक आचार्य श्री जिनप्रभसूरिजी महाराज ने वि.सं. 1365 में इसकी वृत्ति बोधदीपिका नाम से अयोध्या में रची है। इसके छन्दों में कितने ही हेमचन्द्र के शब्दानुशासन में भी नहीं है। प्राकृत के कविदर्पण नामक प्राचीन ग्रन्थ के आधार से श्री जिनप्रभसूरिजी ने इनका विवरण बतलाया है।

अजितशांतिस्तोत्र की कतिपय पक्तियाँ शृंगार रस से भरपूर हैं। महान् आगमवेत्ता नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरिजी के जीवन में घटित एक घटना अजितशान्तिस्तव के शृंगार रस के विवरण से सम्बन्धित है, जो इस प्रकार है--

एक बार सन्ध्या प्रतिक्रमण करने के पश्चात् अभयदेवमुनि को एक शिष्य ने कहा कि महाराज ! अजितशान्तिस्तव में कथित "अबरंतर वियारणियाहिं" इत्यादि चार गाथाओं का कृपा कर अर्थ समझाइये ! तब श्री अभयदेवसूरि ने गाथाओं में कहे देवांगनाओं के सभी विशेषणों का शृंगार रस से भरा हुआ वर्णन कह कर सुनाया। उस समय उपाश्रय के पास से रास्ते चलकर जाती हुई शृंगार रस में निपुण किसी राजकुमारी ने यह वर्णन सुना। उस राजकुमारी ने विचार किया -- यह मेरा स्वामी हो तो जन्म सफल हो ! मैं वहाँ जाकर उस श्रेष्ठनर को प्रार्थना करके लुब्ध करूँ। इस विचार से वह उपाश्रय के द्वार पर आकर बोली कि-- "हे बुद्धिमान् पण्डित द्वार खोलो ! मैं मदन मंजरी नामक राजकुमारी गुणगोष्ठी करने आयी हूँ।" इस प्रकार स्त्री का शब्द असमय में सुनकर गुरु महाराज श्री जिनेश्वरसूरिजी ने अभयदेवमुनि को उपदेश दिया कि पहले तुम्हें शिक्षा दी थी, वह भूल गये ? जहाँ-तहाँ होशियारी बतलाते हो ! अब क्या करोगे ? तुम्हारे गुणों से आकृष्ट प्रथम नरक के सीमांत पाथड़ा (नरकावास) में ले जाने वाली यह सीमंतिनी (स्त्री) आयी है ! यह सुनकर अभदेव ने कहा-- "पूज्यवर ! आपकी कृपा से वह निराश होकर, जैसे आयी है वैसे ही अवश्य चली जायगी। आप निश्चिन्त रहें। फिर अभयदेव ने द्वार खोलकर सभी श्रावकादि के समक्ष उस राजकन्या से कहा-- हे राजपुत्री ! हम जैन साधु हैं, इसलिये हम एक मुहूर्त्त भी स्त्री के साथ धार्मिक बातें नहीं करते। तो फिर गुणगोष्ठी हमारे से नहीं की जा सकती। हम कभी दंतवन भी नहीं करते, मुँह नहीं धोते, स्नानादि बाह्य शुद्धि भी नहीं चाहते। निर्दोष-अन्न भिक्षा-वृत्ति से प्राप्त कर धर्म के आधारभूत शरीर को टिकाने के लिए ही भोजन करते हैं। यह शरीर मलमूत्र, आदि अशुचियों से भरा हुआ होने से महादुर्गन्धमय और वीभत्स है। ऐसे दुर्गन्धमय हमारे शरीर का स्पर्श करना तुम्हारे जैसी राजपुत्री को उचित नहीं। इस प्रकार वीभत्स रस वर्णन किया, जिसे सुन कर राजपुत्री अपनी भूल स्वीकार कर तुरन्त चली गई। फिर गुरु महाराज के पास आने पर गुरु महाराज ने कहा कि तुम्हारा बुद्धि कौशल्य समुद्र की भाँति अथाह है, परन्तु वर्तमान काल में उसे शमन कर देना उचित है। अतः इसके लिए तुम्हें छाछ के साथ जवार की रोटी और कालिंगडा के शाक का ही भोजन करना है जिससे तुम्हारी बुद्धि न्यून होगी। अभयदेव ने गुरु महाराज के वचनों के अनुसार ही आहार ग्रहण करना शुरु कर दिया। कितने ही समय बाद गुरु ने अभयदेव को योग्य ज्ञात कर वि.सं. 1088 में आचार्य पद दिया, तब से वे आचार्य अभयदेवसूरि नाम से प्रसिद्ध हुए। ऊपर अजितशान्तिस्तव की जिन चार गाथाओं का विवेचन करने का उल्लेख किया, वे मूल गाथाएँ और भावार्थ इस प्रकार हैं --

अंबरंतर-विआरिणिआहिं, ललिअ-हंस-वहु गामिणि आहिं।
पीण-सोणि-थण-सालिणि आहिं सकल-कमल-दल-लोअणि आहिं।। 26 ।। [दीवयं]
पीण-निरन्तर-थण-भर-विणमियगाय-लयाहिं,

मणि-कंचण-पसिढिल-मेहल-सोहिय-सोणि-तडाहिं।
वर-सिंखिणि-नेउर-सतिलय-वलय-विभूसणि आहिं,
रइकर चउर-मणोहर-सुन्दर-दंसणि।। 27।। [चित्तखरा]
देव-सुंदरीहिं पाय-वंदिआहिं णंदिआ य जस्स ते सुविक्कमाकमा,
अप्पणो निडाल रहिं मंडणोड्डण-प्पगारएहिं केहिं-केहिं वि।
अवंग-तिलय-पत्त-लेह-नामएहिं चिन्नएहिं संगयं गयाहिं
भत्ति-सन्निविदु-वंदणा गयाहिं हुंति ते वंदिया पुणो।। 28।। [नारायओ]
नमहं जिणचंदं, अजिअं जिय-मोहं।
धुय-सव्व-किलेसं, पयओपणमामि।।29।। [नन्दिअयं]

भावार्थ

यह दीपक, चित्राक्षरा, नाराचक और नन्दितक नामक चार छंदों में अजितनाथ की स्तुति है। इसमें भगवान को वंदन करने के लिए आने वाली देवांगनाओं का निम्नोक्त वर्णन है--

जो आकाश के बीच में विचरने वाली है, जिनकी चाल सुन्दर हंसनी की सी है, जो पुष्ट अंगों से शोभायमान है, अखंडित कमल-पत्र के समान जिनके नेत्र हैं, छाती के बोझ से जिनकी देह नमी हुई है। मणि और सुवर्ण से बनी हुई कुछ ढीली मेखला से जिनकी कमर सुशोभित है, जिन्होंने अच्छे-अच्छे घुंघरु वाले झांझर, सुन्दर तिलक और कंकण से सिंगार किया है, जिनका सुन्दर रस प्रीति-कारक होने से चतुर लोगों के मन को खींचने वाला है, जिनके शरीर से तेज प्रकट होता है। जिन्होंने नेत्रों में काजल, ललाट पर तिलक और गाल पर चित्रलेखा (कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की चित्र रचना) इत्यादि शृंगारों की रचना करके शरीर को अलंकृत किया है, ऐसी देवांगनाओं ने भक्ति से सिर झुका कर जिन भगवान के चरणों का सामान्य और विशेषरूप से बार-बार वन्दन किया, उन मोह-विजयी और सब क्लेशों को दूर करने वाले अजितनाथ जिनेन्द्र को मैं बहुमानपूर्वक प्रणाम करता हूँ।। 26-29।।

शृंगार रस में रचे-पचे गृहस्थ को विविध कथाओं के माध्यम से उपदेश देते हुए वे प्रेमकथा, युद्धकथा द्वारा वैराग्यकथा को भी रुचिर कर देते हैं, पर जैन साहित्यकारों की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने अपने साहित्य को चाहे जहाँ घुमाया हो, लेकिन अन्त में शान्तरस या वैराग्यरस की ही प्रधानता रही है। जैन साहित्य सर्वांगीण होने से उसमें नवों ही रसों को योग्य स्थान मिला है। कई ग्रन्थों में प्रसंगवश शृंगार रस के मार्मिक प्रसंग हैं, परन्तु विप्रलम्भ शृंगार रस की वर्णन वार्ता को मोड़कर वे वैराग्य भावों से ओत-प्रोत कर देते हैं। जैन साहित्य तो समुद्रवत् विशाल है। कुछ वर्णन रूपकमय होते हैं। शिवसुन्दरी (मुक्ति) संयमश्री से दीक्षार्थी के विवाह वर्णन में सद्गुरु पुरोहित होते हैं और वे संयमश्री से विवाह करा कर मोक्ष-मार्ग पर आरुढ़ कर देते हैं। नगरों के शृंगारिक वर्णन में पृथ्वी को ही सुन्दरी बताया गया है। जिनोदयरास में "अत्थि गुजराधरा सुन्दरी सुन्दरे उरवरे रयण हारोवमाणं" लिख कर उसके वक्षस्थल पर पालनपुर को रत्नहार बतलाया गया है। जिनेश्वरसूरि ने चन्द्रायणा में रति और मदन को समर में ब्रह्मचर्य-खड्ग के प्रयोग द्वारा आचार्य को अजेय बतलाया है।

शिल्प, स्थापत्य, चित्रकला और एतद्विषयक ग्रन्थ निर्माण में शृंगार रस का प्रयोग/पोषण प्राचीनकाल से स्वीकार्य रहा है। अमरुक कवि का "अमरुशतक" संस्कृत गीतिकाव्यों में शृंगार परक बेजोड़ रचना है। गाथासप्तशती काव्य का जो प्राकृत में स्थान है वहीं अमरुशतक का संस्कृत में है। शंकराचार्य ने मण्डनमिश्र की पत्नी के प्रेम विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये अमरुक के मृत-शरीर में प्रविष्ट होकर अन्तःपुर की 100 युवतियों से रति विषयक वात्स्यायन के कामसूत्र और उसकी टीका का अनुशीलन कर इस ग्रन्थ रचना की थी। इसी किंवदन्ती से यह विश्वास प्रचलित हो गया है कि काश्मीर के राजा अमरुक के रूप में शंकराचार्य ही अमरशतक के प्रच्छन्न रचयिता थे। टीकाकार श्री रविचन्द्र ने इसका उल्लेख किया है। अमरुक के नाम का सर्वप्रथम वि.सं. 900 में आनन्दवर्द्धन ने उल्लेख किया है। इस काव्य का धरातल उच्च है और पति-पत्नी के प्रेम के सिवाय अभिसारिका के उन्मुक्त प्रेम या दूती का स्थान नहीं है।

शिल्पकला की दृष्टि से भारत के सहस्रों मन्दिर तक्षण कला और वास्तुविद्या के अनुपम उदाहरण हैं। खजुराहो, पुरी आदि मन्दिरों में जो मिथुन मुद्राएँ प्राप्त होती हैं, उनका मूल कारण शृंगार रस का पोषण ही रहा होगा। अधिकांश मन्दिरों के शिखर, परिक्रमा भरत मुनि के नाट्य शास्त्र पर आधारित वास्तुविद्या से सम्बन्धित हैं। जैनेतर शिल्पियों और सामयिक परिपाटी के अनुधावन में चाहे कहीं मिथुन कथंचित् दृश्य आ गये हों, फिर भी जैन मन्दिरों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि गर्भगृह इस से पूर्णतः मुक्त ही रहा। शिव-पार्वती, राधाकृष्ण, राम-सीता आदि की युगल जोड़ी, हिन्दू मन्दिरों में रहती ही है। शैव मन्दिरों में शिवलिंग रहता ही है। हर गौरी की मूर्त्ति में शिवकी गोद में पार्वती और उसके स्तन पर शिव का हाथ, ये सब ऐसे दृश्य हैं, जो परमात्मा के साथ भी सांसारिक शृंगार रस को जोड़ देते हैं।

प्राकृत भाषा और शृंगार साहित्य

'शृंगारगाथाकोश' की समालोचना करते समय दो बातों पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम उसकी भाषा और दूसरा प्रतिपाद्य विषय, रचयिता एवं रचना काल आदि। इस काव्य की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। श्वेताम्बर जैन समुदाय के जितने भी आगमेतर प्राकृत साहित्य के ग्रन्थ हैं, वे सब महाराष्ट्री प्राकृत में हैं। दिगम्बर प्राकृत साहित्य शौरसेनी प्राकृत में है। भगवान महावीर स्वामी की जन्मभूमि मगध देश थी। उन्होंने जनता का उपकार करने के लिए मागधी प्रधान उस भाषा का आश्रय लिया, जिसे अन्य प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सकें अर्थात् वह देशीय शब्दों का स्पर्श करने वाली हो ताकि किसी के समझने में असुविधा न हो, वह थी अर्धमागधी भाषा। प्राचीन जैन साहित्य आचारांग आदि आगमों के अतिरिक्त प्राचीनतम "इसिभासियाइं सुत्ताई" भी अर्धमागधी में ही है। अतः भगवान महावीर की मातृभाषा मागधी ही थी न कि वैशाली की वज्जी। भगवान् की जन्मभूमि क्षत्रियकुण्डग्राम ही था न कि भगवान के ननिहाल वैशाली के कल्पित वसुकुण्डादि अस्तु।

प्राकृत भाषा जन्मजात बालक की जो भाषा हो वही होती है। संस्कृत भाषा तो विद्वानों की भाषा है। उसका संस्कृत शब्द ही संस्कार की हुई व्याकरणादि से परिष्कृत भाषा का सूचक

है। प्राकृत भाषा बालक, वृद्ध और महिलाओं के लिए भी सरलता से उच्चारित एवं भावार्थग्राही थी। रसाचार्य वृद्धवादि के द्वारा सिद्धसेन दिवाकर को जीतने का कारण यही सूझ-बूझ थी। बाद में भी जिनवाणी को संस्कृतमय करने के विचार मात्र से उन्हें पारांचिक प्रायश्चित लेना पड़ा था। प्राकृत की सुकुमारता के सम्बन्ध में अब मैं दो एक गाथाएँ उद्धृत करता हूँ--

परुसो सक्कअ बंधो पउअ बंधोवि होइ सुउमारो
पुरिसमलिहाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिआमिमाणं।। (कर्पूरमंजरी, 1-7)

संस्कृत रचनाएँ कठोर होती हैं और प्राकृत रचनाएँ सुकुमार। पुरुषों और महिलाओं में जितना अन्तर है उतना ही इन दोनों भाषाओं में है।

पाइय कव्वंमि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहिं (वज्जालग्ग, 3/3)
उययस्स य वासियसीयलस्स तत्तिं ण वच्चामो।।

प्राकृत काव्य में तथा विदग्ध वचनों (द्व्यर्थक व्यंगोक्ति) में जो रस होता है, उससे तृप्ति नहीं होती है। जैसे सुवासित और शीतल जल से मन तृप्त नहीं होता है।

पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मियं जेण।
ताहं चिय पणमामो पढिऊण य जे वि याणंति।। (वज्जालग्ग, 3/13)

प्राकृत काव्य को नमस्कार है, जिन्होंने प्राकृत काव्य की रचना की है, उन्हें नमस्कार है। जो पढ़कर उन्हें जान लेते हैं, उन्हें भी हम प्रणाम करते हैं।

वीररस में जहाँ भरत मुनि ने दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर उल्लेख किया है, वहाँ जैन सूत्रों के टीकाकारों ने महावीर का उदाहरण देकर उन्हें राज्य वैभव त्याग से दानवीर, दीक्षित होने से धर्मवीर कामक्रोधादि शत्रुओं को जीतने से युद्धवीर बतलाया है।

महाराष्ट्री प्राकृत में रचित गाहासतसई शृंगाररस का प्राचीनतम ग्रन्थ है और सतसई काव्यों की परम्परा का आदिस्रोत है। संस्कृत के महाकवियों ने भी प्राकृतभाषा में माधुर्य लोकजीवन के यथार्थ अनुभवों की अभिव्यक्ति और ललित, आर्या/गाथा छन्द को अत्यन्त सौष्ठव युक्त बतलाते हुए उसकी बड़ी ही प्रशंसा की है। उसमें स्वाभाविकता है, ठेठ देशी शब्दों का प्राचुर्य है। वज्जालग्ग जैसे दूसरे अनेक ग्रन्थों में इन्हीं भावों का अनुधावन दृष्टिगोचर होता है।

गाहासतसई शकसंवत् प्रवर्तक शालिवाहन नृप (हालकवि) की अमर कृति है। यह तत्कालीन जनता की मातृभाषा प्राकृत में रचित है, जिसमें भारतीय प्रेम, प्राकृतिक दृश्य और सुभाषित आदि का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर और समयोपयोगी बन पड़ा है। डॉ. हरिराम आचार्य द्वारा उसके संस्कृत-हिन्दी काव्य रूपान्तरण के साथ-साथ परवर्त्ती विद्वानों द्वारा उसमें प्रयुक्त भावों का ग्रहण किस प्रकार हुआ है यह भी प्रत्येक शतक के अन्त में सप्रमाण उल्लिखित है। यह ग्रन्थ प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित है।

हाल कवि ने जब इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, तो उस समय यह साहित्य बहुत विस्तृत था और प्राचीन जनजीवन का जीता जागता चित्र प्रस्तुत करता था। लोक मानस के दैनन्दिन व्यवहार में प्रचलित विविध मुहावरों, तीखे-व्यंगों और कटूक्तियों के प्रयोग इसमें उपलब्ध थे। उसी विशाल समुद्र में से मूल्यवान पानीदार मुक्ताओं वाली सीपियाँ/सात सौ गाथाएँ चुनकर इसका संकलन/गुंफन किया है। हाल कवि या नृपति शालिवाहन सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पादलिप्तसूरि के समकालीन थे। कवि के हाल नाम से प्रसिद्ध होने के कारण भारत के विभिन्न प्रान्तों की बोली का उच्चारण भेद ही प्रतीत होता है। गुजरात और राजस्थान में यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, कहीं "स" को "च" और कहीं "ह" उच्चारण किया जाता है। आसाम में भी यह उच्चारण स्पष्टतया परिलक्षित होता है। मारवाड़ में तो खास कर जोधपुर संभाग में फलोदी आदि में "स" को "ह" ही बोलते हैं। किसी संस्कृतज्ञ विद्वान की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि --

"आशीर्वादोऽपि न ग्राह्यो, मरुदेश निवासिनाम्।
शतायुरिति वक्तव्ये, हतायुरिति वादिनाम्"

उच्चारण भेद से अर्थ का अनर्थ हो जाना स्पष्ट है, अस्तु। 'शाल' की "हाल" नाम से प्रसिद्धि इसी उच्चारण भेद की देन है।

कवि जयवल्लभ कृत 'वज्जालग्ग' ग्रन्थ भी अनेक विषयों से सम्बन्धित प्राकृत रचना है। इसमें सभी विषयों का विशद वर्णन है और उस पर रत्नदेव कृत संस्कृत टीका के साथ यह ग्रन्थ प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसके 96 विषयों में शृंगार रस से सम्बन्धित बहुत सी गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी से भी प्रकाशित हुआ है। धनसार पाठक ने भी इस पर "विषमार्थ पद प्रदीप" नामक टीका लिखी है।

श्री वल्लभचार्य ने शृंगार युक्त धर्म की प्ररूपणा की। वल्लभसंप्रदाय के उद्भव और प्रचार ने लोगों को शृंगार रस युक्त धर्म की ओर काफी आकृष्ट किया। वीतराग धर्म की ओर विमुखता बढ़ती गई। उसका मुख्य कारण यही है कि अनादिकाल से जीव शृंगार आदि विभाव परिणति में मूर्छित हैं, उसका वैराग्य के सन्मुख होना कठिन है और जब उनके समक्ष शृंगार को ही धर्म के रूप में रखा जाय तो वैराग्य कहाँ से होगा ? फिर तो वीतराग-मार्ग से विमुखता ही बढ़ेगी।

जैन लेखक और शृंगार साहित्य

आम जनता का शृंगाररस की ओर झुकाव देखकर ही सम्भवतः जैन कवियों ने तीर्थंकर नेमिनाथ और राजिमती (राजुल) तथा स्थूलिभद्र और कोशा के चरित्र का शृंगारिक वर्णन किया, किन्तु अन्त में दोनों ही कथाओं को वैराग्य की ओर मोड़ा गया। यह वह युग था, जब शृंगार अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था, इसलिए इस लोकप्रियता का ध्यान रखते हुए जैन

कवियों को भी इसी प्रवाह में बहना पड़ा।

मैं यहाँ कुछेक ऐसी जैन रचनाओं एवं जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाओं की सूची प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनमें शृंगार रस को भरपूर स्थान मिला है--

1. शृंगारघनद-घनदत्रिशती	घनदराज, माण्डवगढ़, वि.सं. 1490
2. अकबर शाही शृंगार दर्पण	पद्मसुन्दर
3. कामोद्दीपन ज्ञान सारगणि	जयपुर प्रताप सिंह वर्णन, वि.सं. 1856
4. कुमारसंभव टीका	चरित्रवर्द्धन, वि.सं. 1492
5. कुमारसंभव टीका	जिनभद्रसूरि
6. कुमारसंभव टीका	जिनसमुद्रसूरि
7. कुमारसंभव टीका	उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ
8. कुमारसंभव टीका	उपाध्याय समयसुन्दर
9. कुमारसंभव टीका	क्षेमहंस 16वीं शती, उल्लेख स्वकृत रघुवंशी टीका में है।
10. कुमारसंभव अवचूरि	अंचलगच्छीय श्रावक वाडव ने 14 ग्रन्थों पर लिखी थी, जिसमें केवल वृतरत्नाकर अवचूरि महो. विनयसागर के संग्रह में है।
11. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	श्रीसार
12. कृष्ण रुक्मिणी वेलि भाषाटीका	कुशलधीर
13. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	जयकीर्त्ति
14. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	लक्ष्मीवल्लभ
15. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	दानधर्म
16. कृष्णरुक्मिणी वेलि भाषाटीका	शिवनिधान
17. कृष्णरुक्मिणी वेलि संस्कृतटीका	सारंग कवि
18. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	अभयकुशल
19. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	रामविजय
20. भर्तृहरि शृंगारशतक संस्कृतटीका	लक्ष्मीवल्लभ
21. भर्तृहरि "आणंदभूषण प्रमोद" संस्कृतटीका	नयनसिंह, वि.सं. 1786 बीकानेर राजवंश के आनन्दसिंह के लिए।
22. भर्तृहरि "आणंदभूषण प्रमोद" संस्कृतटीका	धनसार, उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एवं मंत्री राजलदे के पुत्र, वि.सं.1527 में उपाध्याय थे। इनकी 1. उएसारास, वि.सं. 1532, 2. वज्जालग्गं टीका, वि.सं. 1553 और 3. भर्तृहरिशतक उपलब्ध है।
23. भर्तृहरि शतकत्रय हिन्दी पद्यानुवाद	विनयलाभ

24. शृंगारमण्डन (शृंगाररस के 108 श्लोक)	मंत्री मण्डन
25. शृंगाररसमाला (गाथा 41)	सूरचन्द्र, वि.सं. 1659 अक्षय तृतीया, नागोर
26. शृंगारवैराग्यतरंगिणी टीका	नन्दलाल
27. शृंगारशतक	जिनवल्लभसूरि
28. शृंगारादि संग्रह सोदाहरण	अज्ञात
29. अनूपरसाल	उदयचन्द्र, वि.सं. 1728
30. भावशतक	समयसुन्दर, वि.सं. 1641
31. माधवानल कामकंदला चौपई	कुशल लाभ, वि.सं. 1616 जैसलमेर
32. ढोलामारु चौपई	कुशललाभ, वि.सं. 1617
33. कोक चौपाई	नर्बुदाचार्य, देखें-- जैन गूर्जर कविओ, पृ. 300
34. वज्जालग्गं	जयवल्लभ
35. शशिकला पंचाशिका	ज्ञानाचार्य
37. कोकशास्त्र	ज्ञानसोम
38. शृंगारगाथा विज्जाहला	श्रुतसागर, वि.सं. 1503
39. शृंगारिक पद्य	अज्ञात
40. शृंगारमंजरी संग्रह अजितसेनदेव	जैनसिद्धान्त भवन, आरा
41. शृंगाराणर्णविचन्द्रिका	विजयवर्णी (विजयकीर्त्ति शिष्य) जैनसिद्धान्त भवन, आरा
42. मदनकामरत्न	पूज्यपाद पंचबाणरस. जैनसिद्धान्त भवन, आरा
43. संयोगद्वात्रिंशिका	खरतरगच्छीय मानकवि (सुमतिमेरु के शिष्य), वि.सं. 1773
44. रसिकप्रिया वार्त्तिक	कुशलधीर, वि.सं. 1724
45. ढोलामारु वार्त्ता दोहा	जयानन्द महोविनयसागर कोटा संग्रह
46. रसाउलो (प्राकृत)	पूर्णिमापक्षे मुनिचन्द्रसूरि, वि.सं. 1577 के आस-पास हालाभाई भण्डार, पाटण
47. सुदयवच्छ सावलिंगा चौपाई	खरतरगच्छीय कीर्त्तिवर्द्धन जैन-गुर्जर कविओ, पृ.331
48. चतुरप्रिया (नायकनायिका भेद 2 उल्लास पद्य क्रमशः 86, 48	केशवमुनि कीर्त्तिवर्द्धन राजस्थान जैन साहित्य
49. राजमतीविप्रलंभ स्वोपज्ञ टीका	पं. आशाधर अप्राप्त
50. रसिकप्रिया टीका	जावालिपुर खरतर समय माणिक्य (समरथ), वि.सं.1746
51. सुदयवच्छवीर चरित्र संस्कृत	हर्षवर्द्धन (रत्नशेखर शिष्य) जैनगुर्जर कविओ, भाग3
52. सदयवच्छ वीर चरित्र गुजराती	अज्ञात कृत, वि.सं. 1652 पूर्व जैनगुर्जर

	कविओ, भाग3
53. सुदेवच्छ सावलिंगा चौपई	केशवविजय (विजयदेवसूरि के शिष्य), वि.सं. 1679 जालोर
54. मनोहर माधव विलास अथवा माधवानल	पूर्व पद्य 199 अज्ञात कवि, वि.सं. 1689
55. स्वीगुणसवैया हिन्दी	जटमल नाहर जैनगुर्जर कविओ, भाग ३, पृ. 374
56. स्त्री गजल हिन्दी	जटमल नाहर जैनगुर्जर कविओ, भाग ३, पृ. 374
57 से 60. रसनिवास, कोकपद्य, नखसिख और शृंगार कवित्तादि 37 रचनाएँ विनयसागर के संग्रह में हैं।	रचयिता उदयचन्द भण्डारी (जोधपुर नरेश महो. मानसिंह के मंत्री उत्तमचन्द के भ्राता थे जिनका "अलंकाराशय" नामक ग्रन्थ उच्चकोटि का है) राजस्थान का जैन साहित्य, पृ. 282
61. मदनशतक --	अंचलदामो (दयासागर) वाचक उदयसागर के शिष्य, वि.सं. 1669, जालोर इस मदन नरेन्द्र चौपई में दोहे 101 है। इसकी 8 चित्रमय प्रति है। चौपई के दोहों में वृद्धि होकर 132 दोहे हो गए, गद्य वार्ता भी समाविष्ट है। आगरा विश्वविद्यालय के भारतीय साहित्य जुलाई-अक्टूबर सन् 1962 में मदनशतक प्रकाशित हुआ। इसमें वह गुप्त लेख जो रति सुन्दरी ने प्रियतम को भेजा था, विशेष उल्लेखनीय है।
62. रसमंजरी --	नायक-नायिका सम्बन्धी 107 पद्य, महिमासिंह-मानकवि. खरतरगच्छीय उपाध्याय शिवनिधान के शिष्य रचनाकाल, वि.सं. 1670 से 1693, अभयजैन ग्रन्थालय, बीकानेर।
63. वैद्यविरहिणीप्रबन्ध --	उदयराज (खरतरगच्छीय उपाध्याय भद्रसार के शिष्य पद्य 78, अभय जैन ग्रन्थालय), बीकानेर।
64. वज्जालग्गंटीका --	रत्नदेव कृत टीका, वि.सं. 1393 प्राकृतग्रन्थपरिषद, अहमदाबाद से प्रकाशित
65. वज्जालग्गं विषमार्थ पदप्रदीप	धनसार पाठक, वि.सं. 1553

इसमें शृंगार सम्बन्धी 96 विषयों पर पहले क्रम में 795 गाथाएँ हैं। इसके एपेण्डिक्स C प्रति से अतिरिक्त गाथाएँ पृ. 206 में 267 तक हैं,

वि.सं. 1570 लिखित हमारे संग्रह में है।

66. संदेशरासक टीका -- यह कवि अब्दुर्रहमान की खण्ड रूप में रचना है, जो सुखान्त विप्रलम्भ शृंगार का काव्य है। इसमें विक्रमपुर की एक वियोगिणी अपने प्रवासी पति के लिए प्रेम सन्देश भेजती है। संदेशवाहक ज्योंही प्रस्थान करता है, पति आ जाता है। इस पर रुद्रपल्लीय खरतरगच्छ के लक्ष्मीचन्द्र कृत टीका है।

67. गाथासत्तसई (गाथासप्तशती) -- भारतीय साहित्य में शृंगार रस विषयक महाराष्ट्री प्राकृत का सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। यह हाल कवि शालिवाहन, शक संवत् प्रवर्तक) की रचना है जो स्वयं जैन था। इसके अनेक संस्करण और देश-विदेश के विद्वानों द्वारा की गई टीकाओं सहित प्रकाशित हुए हैं। डॉ. हरिराम आचार्य ने पीताम्बर हारिताश्व और भुवनपाल जैन की टीकाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि भुवनपाल की टीका में 384 गाथाकार कवियों का नामोल्लेख किया गया है।

68. गाथासत्तसईटीका भुवनपाल जैन

69. शृंगारवैराग्यतरंगिणी सोमप्रभाचार्य

70. कन्दर्प चूडामणी वीरभद्र, वि.सं. 1633 जैन साहित्यनो इतिहास पृ.586 एवं जैन गुर्जर कविओ, भाग 2 में उल्लिखित है।

71. अभिनवशृंगारमंजरी जयवंतसूरि, वि.सं. 1614

72. विल्हण पंचाशिका चौपाई सारंगकवि, वि.सं. 1639

73. मातृकापाठ शृंगाररस गाथाकोश जिनभद्र शिष्य वीरभद्र

74. प्रेमपत्री दोहा कवि जिनहर्ष -- जसराज की अनेक फुटकर कविताएँ शृंगार से ओत-प्रोत हैं। (जिनहर्ष ग्रन्थावली)

अब यहाँ कुछ कवियों के शृंगार सम्बन्धी ग्रन्थों के अवतरण दे रहा हूँ। कवि कीर्त्तिवर्द्धन ने सुदयवच्छसावलिंगा चौपई में कहा है--

रस नवहि अति सरस है, अपणी अपणी ठाम।
उत्पति सहु शृंगार की, सहुजन नै अभिराम।।4।।
रसीओ विण शृंगार रस, शोभ न पावै शुद्ध।

कामिण विण कामी पुरुष, दीसे शुद्ध विशुद्ध।। 5।।
तिणरस को कारण त्रिया, वलि नायक सुप्रधान।
कवियण तिण करण कहै, रसिक हैयुं धरिध्यान।।6।।
रस वंछे जो जो रसिक, सज्जन सुगुण सुहाउ।
सुदेवच्छ की वारता, सुणो रसिक सिर दाउ।। 7।।

ऊपर दी गई विस्तृत सूची में शृंगार रस विषयक बहुसंख्यक रचनाएँ टीकाएँ आदि जैन कवियों द्वारा गत सहस्राब्दी में गुंफित हुई हैं किन्तु इन सब में प्राचीन रचना "अजितशांतिस्तोत्र" है, जिसमें चार गाथाएँ भगवान की भक्ति हेतु आयी हुई अप्सराओं के शृंगार विषयक वर्णन से सम्बन्धित है। इस प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्तवन के अनुकरण में बारहवीं शताब्दी के जैनाचार्य श्री जिनवल्लभसूरि का लघु अजितशान्तिस्मरण है जो प्राकृत में है और दूसरा पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में श्री जिनोदयसूरि के शिष्य उपाध्याय मेरुनन्दन कृत अजितशान्तिस्तवन 32 गाथा का है। दोनों उत्कृष्ट रचनाएँ हैं पर उनमें शृंगार रस अछूता ही रहा है। केवल प्रथम प्राकृत रचना में शृंगार प्रधान नाट्योपचार में अनिमेष प्रभु दर्शन की इच्छा में सिर झुकाने में भी अंतराय भूत अलस प्रदर्शित है (गाथा 7) सातवीं गाथा में मुक्ति लक्ष्मी के आलिंगन में उसके घन स्तन का पीलापन स्वर्ण के समान सुशोभित बतलाया गया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जैन साहित्य की जबरदस्त प्रभावना करने वाले भट्टारक सकलकीर्ति हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत में 27 और राजस्थानी में 7 ग्रन्थों रचना की थी। इनका शांतिनाथचरित्र 3475 श्लोक परिमाण है। आलंकारिक और प्रवाहमय भाषा के कारण इसे महाकाव्य की संज्ञा मिल सकती है। इसके प्रारम्भ में कवि ने शृंगार रस से ओत-प्रोत काव्य की रचना क्यों नहीं की जाय, इस पर अच्छा प्रकाश डाला है।

यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य आचार्य सोमदेवसूरि की रचना है, जो सन् 959 ई. में रचित है। यह बाण की कादम्बरी और धनपाल की तिलकमंजरी के समकक्ष प्रौढ रचना है। इसमें राजा यशोधर का जीवन चरित्र आदि अनेक कथाएँ गर्भित है। काव्य में शृंगार रस का अलंकार सहित प्रचुर वर्णन है। आटे के मुर्गे के बलिदान से भी भवान्तरों में दारुण भव-भ्रमण-कर्म विपाक होता है -- यही इस कथा का प्रतिपाद्य है।

जैन साहित्यकारों को शृंगाररसपूर्ण अनेक रचनाएँ राजा और राजकुमारों के मनोविनोदार्थ तथा विद्वानों की गोष्ठी में प्रस्तुत करने हेतु करनी पड़ी थीं। कविकुशललाभ ने माधवानल कामकंदला और ढोलामारु की रचनाएँ जैसलमेर के महाराजकुमार के लिए रची थीं। कहा जाता है कि पृथ्वीराज की कृष्णरुक्मिणीवेलि और कुशललाभ की ढोलामारुचौपई सुनकर सम्राट अकबर ने कहा था कि पृथ्वीराज की वेलि को ढोले का करहा (ऊँट) चर गया। वस्तुतः प्रस्तुत प्रेम कथाओं में सद्गुण प्रतिपादन और सभ्यतापूर्वक लेखन के कारण उनका स्थान श्यामल भट्ट से ऊँचा है, क्योंकि कुशललाभ की शिष्ट शैली के कारण ही स्वर्गीय चीमनलाल दलाल ने उसे (श्यामल भट्ट के शृंगार को) पाल (मर्यादा) रहित बतलाया है और

कृष्णलाल झवेरी ने सम्पूर्णतः साधु धर्म पालने वाले कुशललाभ के शृंगार रस को मर्यादित बतलाया है। नर्मदजैसों को कहना पड़ा कि कितनी कथाएँ श्यामल भट्ट न लिखता तो अच्छा रहता। जब कि हरगोविन्द काँटा वाला जैन शैली की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि उसमें सद्गुण प्रतिपादन और शील की महिमा बतलाई गई है। (साहित्य, सन् 1914-15)

श्री मंजुलाल मजुमदार लिखते हैं कि लोक वार्ताओं सम्बन्धी जैन साहित्य में प्रचुर परिमाण में पद्य कृतियाँ हैं, जिन्हें जैनमुनि धर्मलाभ के लिए अपने विरक्त और असंग जीवन में भी लिखते थे। कुछ यतिजन राजदरबारी व्यक्तियों के विनोद के लिये भी लिखते थे पर उनका उद्देश्य वार्त्ता में शृंगार रस और प्रेम की भूमिका खड़ी करके भी मनुष्य को विलास की निःसारता बतलाना था। महोपाध्याय समयसुन्दर ने कहा है कि "कवि कल्लोल भणी कहै, रसना वाह्या पण केई रे।"

कवि बनारसीदास श्रीमाल खरतरगच्छीय श्रावक थे। उन्होंने मुनि भानुचन्द्र के पास धार्मिक तथा संस्कृतछंदादि के ग्रन्थों का अभ्यास किया था। तरुणावस्था (वि.सं. 1657) के प्रारम्भ में इश्कबाजी में पड़ गये थे। उन्होंने शृंगार से सम्बन्धित ग्रन्थ रचा, परन्तु जीवन में आध्यात्मिक मोड़ आने से वि.सं. 1664 में उस शृंगारिक ग्रन्थ को गोमती नदी में फैंक दिया।

विल्हण पंचाशिका संस्कृत में एक काश्मीरी पण्डित की रचना है। जिस पर ज्ञानाचार्य ने चौपाई वि.सं. 1626 से पूर्व 16वीं शती में लिखी थी। इस ग्रन्थ के बारे में स्वर्गीय चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने बहुत सी जानकारी दी है।

काश्मीरी पण्डित विल्हण अणहिलवाड में कर्णदेव के राज्य में आया और उसने कर्णसुन्दरी नाटक की रचना की थी, जो संपत्कर महामात्य प्रवर्तित भगवान् ऋषभदेव के यात्रा महोत्सव के प्रसंग में अभिनीत हुआ था।

विल्हण गुजरात में सोमनाथ की यात्रा करके रामेश्वर तक गया और दक्षिण की चालुक्य राजधानी कल्याण में आकर राजा विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल का विद्यापति नियुक्त हुआ। उसका विक्रमांककाव्य राजा की प्रशस्तिरूप है। त्रिभुवनमल्ल के पौत्र सोमेश्वर देव भूलोकमल्ल द्वारा भी विक्रमांकाभ्युदय काव्य बनाया गया, जिसकी ताड़पत्रीय त्रुटित प्रति पाटण के संघवीपाड़ा के भण्डार में है। विल्हण का समय ई. सन् 1065 से 1085 निर्णीत हुआ है।

"अद्यापि तां" पद से प्रारम्भ होने वाला 50 वसंततिलकाछन्दों में रचित यह खण्डकाव्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है, उसे कुछ विद्वान चौर कवि कृत मानते हैं और कुछ विल्हण कृत मानते हैं। पचास श्लोकों के इस खण्ड काव्य के पूर्व भाग रूप में "पूर्व चतुःसप्ततिका" नामक 74 श्लोक का नवीन काव्य किसी ने रचा है, जिसमें विल्हण के सम्बन्ध में एक प्रसंग इस प्रकार लिखा हुआ है--

अणहिलपुर के राजा वैरिसिंह (ई.सन् 920) और अनन्तपुर के राजा की पुत्री सुतारा की कोख से शशिकला नामक पुत्री हुई। वयस्क होने पर राजा ने उसे पढ़ाने के लिये राजसभा

में आये हुए काश्मीरी विद्वान विल्हण को नियुक्त किया। व्याकरण, काव्य, संगीत आदि शास्त्रों के अभ्यास के बाद कामशास्त्र प्रारम्भ हुआ। इसी बीच दोनों के स्नेह बढ़ने पर वे गांधर्व विवाह करके कामशास्त्रोक्त रति-विलास सुख भोगने लगे। रक्षकों ने शशिकला का विकृत रूप देख कर राजा से निवेदन किया और राजा ने विल्हण को शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दी। इसके बाद की वार्त्ता ज्ञानाचार्य जैसी ही है।

मंगलाचरण के पश्चात् लिखा है कि उत्तर देश में श्रीपुरपाटण में पृथ्वीचन्द्र राजा राज्य करता था जिसकी पटरानी प्रेमावती की कोख से शशिकला का जन्म हुआ था। उसे अध्यापक ने नैषध काव्य के पाँच सर्ग पढ़ा दिये। पण्डित का देहावसान हो जाने से अन्य अध्यापक की शोध करते कलिंग देश से विल्हण पण्डित की प्राप्ति हुई। राजा ने कुमारी के लिए उसे शिक्षक नियुक्त किया। दोनों के तरुण होने से कोई कुत्सित कार्य न हो जाय इसलिए राजकुमारी को अन्धी और विल्हण को कोढ़ी बता कर पर्दे की ओट में अध्यापन प्रारम्भ हुआ। एक बार एक विकट श्लोकार्थ में वृत्ति न देखने पर विल्हण ने राजकुमारी को कहा-- "तुम अन्धी हो, इसलिए देख नहीं सकती" निरर्थकं जन्म गतं नलिन्यां तु हिमांशुबिम्बम् " राजकुमारी ने कहा-- मैं ग्रन्थ पढ़ कर कहती हूँ ! इस पर पर्दा हटाने पर सारा मर्म प्रकट हो गया। वे एक-दूसरे के प्रति मुग्ध हो गए। लज्जा दूर हो गई, काम क्रीड़ा करने लगे।

करिकटाक्ष लांबइ शर शर्मि, भवुह भावि कुलालइ मर्मि,
डसणे सरमि अहरा डसइ, बलि कंचुकी करस्युं कसइ।।43।।
कुच काढ़ी कंडूरइकान, भींची मींटि करइ ते सान,
आलस मोड़इ आवइ जंभ, निरतइ नाभि दिखाड़इ रंभ।।44।।
वार वार मेलइ नीसास, अवला करइ अध्यारु आस
मांहो मांहि मूंकइ लाज, प्रीति प्रगट थई कीधुं काज।।45।।
करइ कतूहल क्रीड़ा दोइ, भोग भोगवइ सुरना सोइ,
अंगि जि अनंग तणउ अभ्यास, विलसइ पण्डित विविध विलास।।46।।
इम सुख सेवइ कुमरि एकन्ति, जोसी युवति भल्या इक घिंति।
मन गमनुं माणइ मानिनी, जाणइ नहिं वासर यामिनी।।47।।
सरखि वेस सरूप सुजाण, पंडित रातु पुत्री राण
इम लीला आवास मझारि, नव नव रंग करइ नर नारि।।48।।

राजा ने कुमारी का विकसित शरीर देखकर पण्डित को मृत्यु दण्ड दिया। शूलि चढ़ाते हुए जब उसे इष्ट देव का स्मरण करने को कहा गया, तो विल्हण ने कहा कि मेरा इष्टदेव शशिकला ही है। राजा ने प्रधानमंत्री की सलाह से विल्हण एवं शशिकला का विवाह कर दिया। विल्हणपंचाशिका ज्ञानाचार्य कृत है। दूसरी कृति सारंग कवि की है। इसके विस्तृत विवेचन में जाना अनावश्यक है। पंचाशिका का अंग्रेजी कविता में अनुवाद सर आर्नोल्ड ने किया है।

जैन कवियों ने कथा साहित्य प्रचुर परिमाण में लिखा है। उसमें नवों रसों का पोषण हुआ है, किन्तु उद्देश्य सदाचार के प्रति निष्ठा ही रहा है। कवि जयवन्तसूरि ने शृंगारमंजरी अथवा शीलवतीरास की रचना वि.सं. 1614 में की है, उसके प्रारम्भ में ही सरस्वती की स्तुति करते हुए उसका शृंगारिक वर्णन करके ही नमस्कार किया है अर्थात् शृंगारिक वर्णन करने में सरस्वती को भी नहीं छोड़ा है, प्रारम्भ देखिये --

दोहा --

चंद्रवदनि चंपक बनी, चालंति गज गत्ति,
मयणराय मन्दिर जिसी, पाय पणमूं सरसत्ति।।1।।
सोवन चूडी कर धरी, उरवरि नवसर हार,
खलकति सोवन मेखला, पय झांझर झमकार।।2।।
वणीदंड प्रचंडए, जिसु शेष भुयंग,
अंग अभंग अनंगनु, नाग सुरंग समंग।।3।।
पीन पयोधर भार भर, कटि तटि झीणुं लंक,
विकसत खंजन नयणलो, धणुहजिसिड भूवंक।।4।।
दाडिम कुली जिम दंतड़ा, अधर प्रवाली रंग,
नाशादीप शिखा जिसी, नयणे जित्तकुरंग।।5।।
कोमल किसलय कमल कर, काने कनक ताडंक (=कुंडल),
धन पीन स्तन जधन युग, कयली कोमल जंघ।।6।।
कमल कमंडल करि धरणि, धरणी (=पृथ्वी) प्रसिद्ध समान,
सारद सेवक सुख करणि, करणि गति अभिराम।।7।।
सचराचरि व्याप्त रही, गुणमणि नु भंडार,
गुण अनन्त सरसतितणा, कहितु न लहूंपार।।8।।

इन्हीं के समकालीन पूर्णिमागच्छ के गुणमेरु के शिष्य रत्नसुन्दरसूरि की रचना है-- पंचाख्यानचौपई अथवा कथाकल्लोलचौपई (पंचकारणरास)। यह वि.सं. 1622 में साणंद में बनी थी। विष्णु शर्मा के पंच-तंत्र के आधार पर यह रची गई है। पंच-तंत्र के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान हर्टल ने सभी भाषा के ग्रन्थों पर शोध करके यह सिद्ध किया है कि पंचतंत्र का मूल उत्पादक जैन साहित्य है। प्रस्तुत चौपई भी उनके देखी हुई है। प्रारम्भिक 4 दोहों के बाद 3 छंद स्तुति के है। बाद में 11 पद्यों में केवल सरस्वती की शृंगारिक स्तुति की है--

चौपाई --

चरण चोली चिर दिवंग, धरै त्रिवेली नवरंग।
नवखनादि रणकै लेवरी, धमकै जोड़ि सोवन घूंघरी।।8।।
हार दोर सोवन मेखला, नलवटि आधा शशिधर कला।
कर कंकण सोवन मूंदड़ी, कानझबूके रयणे जड़ी।।9।।

मस्तकि मन मोहन राखड़ी, सिरिसइथुं सोहे पद कड़ी।
नासा अतिमोती निर्मलु, पूनिम चन्द थकी मुख भलुं।। 10।।
कमल नयनि काजल नी रेह, अधर रंग परवाली जेह।
दंत पंक्ति दाडिम नी कली, कै जवहर हीरे सु मली।। 11।।
कमल नाल भुजदण्ड प्रमाण, वेणि दंड वासिग नुं मान।
वांकी भमहि धनुष नु वंक, कटिप्रदेश केसरिनुं लंक।। 12।।
कणय कलश कुच वेय समान, कमठ पीठ पद गोपति जान।
मुख तंबोल कुंकुम रोल, तन उवट चंदन रस घोल।। 13।।
रमै रंग जल थल आकासि, वसै वर्णवा वन नै वासि।
पूर आस कवि मुख ऊतरी, सरसति सरस वाणि दी खरी।। 14।।

भाषा के मूर्धन्य कवियों में प्रचुर साहित्य निर्माता जिनहर्ष की बड़ी प्रसिद्धि है। उन्होंने अपनी साठ वर्ष पर्यन्त की हुई साहित्य साधना में राजस्थान और गुजरात में विहार कर जो रचनाएँ की, उनमें नेमिराजुल, स्थूलिभद्र, धर्मकथारासचौपाई आदि में शृंगार रस भी पर्याप्त अभिव्यक्त हुआ है। कुछ रचनाओं में अपने पूर्व नाम "जसराज" का भी प्रयोग किया है। उन्होंने प्रेमपत्री के 106 दोहों में तथा फुटकर कवित्त बरसात के दोहे, स्त्री वर्णन, मानिनी वर्णन, रागिनी वर्णन आदि में शृंगार रस का खुलकर वर्णन किया है। बड़े-बड़े रासादि साहित्य में प्रसंगवश वर्णित नौ रसों का परिशीलन किया जाय तो एक महानिबन्ध तैयार हो सकता है। लघुकृतियों के लेखकों की बहुमुखी प्रतिमा का रसास्वादन करने के लिए जिनहर्ष ग्रन्थावली देखना चाहिए। उरसीउ के द्व्यर्थक विनोद के लिए दो दोहे देखिए --

उरसीउ आणि हे सखी सूकडि घसीइ जेणि।
विरह दाधी प्रेम कौ, अगनि बुझावुं जेणि।।1।।
मैं जाण्यौ तुं जाण छै, पणि तूं बडी अजाण।
मैं उरसीयौ मंगीऊँ तैं आण्यौ पाषाण।।2।।

जैनधर्म में आध्यात्मिक महापुरुषों का स्थान ऊँचा है। उन्होंने शुद्ध चेतना रूपी समता से चेतन रूपी आत्मा के विरह को लेकर रहस्यवादी कवियों की भाँति अपने पदों में आत्म साक्षात्कार हेतु स्थान-स्थान पर विरह व्यथा की तड़फन को अभिव्यक्त किया है। महान् योगिराज आनन्दघन, ज्ञानसार, ज्ञानानन्द, चिदानन्द एवं सहजानन्दघन की कविताओं में यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस आध्यात्मिक शृंगार के उदाहरण दिये जाएँ तो पर्याप्त विस्तृत पृष्ठ रोके जा सकते हैं पर यहाँ केवल साधारणतया निर्देश कर देना ही उचित होगा।

श्री आनन्दघनजी के बहुत्तरी आदि शताधिक पद हैं। इसी प्रकार ज्ञानसारजी के भी बहुत्तरी व फुटकर पद मिलाकर शताधिक हैं। चिदानन्द जी महाराज की भी बहुत्तरी है। ज्ञानानन्दजी के ज्ञानविलास और संयमतरंग में शताधिक पद हैं। इन सभी योगिराजों ने आत्मसाक्षात्कार के लिए पिऊमिलन के लिए विविध प्रकार से व्याकुलता व्यक्त की है। योगीन्द्र

युगप्रधान सहजानन्दघनजी महाराज ने भी अपने पदों में साधकों के आनन्दघन, जिज्ञासु और भक्त-- ऐसे तीन प्रकार बतलाये हैं। आनन्दघन तो आत्म साक्षात्कार कर चुके हैं। भक्तों में विरहाग्नि सुलग रही है वे भौतिक सुख नहीं चाहते किन्तु जो भोगासक्त और अन्तर्दाह से संपृक्त हैं, वे सत्साधना के अनधिकारी हैं।

प्रस्तुत कृति शृंगाररसगाथाकोश

प्रस्तुत लघुकृति (गाथा 40) यशोभद्र के शिष्य वीरभद्र की रचना है, जो हमारे संग्रह के वि.सं. 1570 में लिखित एक गुटके से उद्धृत की गई है। इसकी दूसरी प्रति कहीं भी उपलब्ध न होने से पाठान्तरादि का संशोधन न हो सका है। इसकी प्रथम गाथा में जिनेश्वर और सरस्वती को नमस्कार कर सुललित शृंगार कलित शृंगाररसगाथाकोश रखने का संकल्प किया है फिर "ॐ नमः सिद्धं" के अक्षर ओ न म स घ से आद्यक्षर प्रारम्भ कर क्रमशः अ आ इ ई उ ए अं क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ न् त थ द प फ ब भ र ल व ह को आद्यक्षर बनाया है।गाथा 1से 37 तक चारों पदों में एक ही आद्यक्षर लिया है।

इसमें नायक-नायिका, प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी के विप्रलंभ वियोग शृंगार का वर्णन है। मध्यस्थ दूती के द्वारा ही एक दूसरे को संबोधित किया गया है। इसमें न तो अभिसार है और न व्यभिचार है, मात्र विरह-व्यथा का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया गया है। मर्यादा में रहकर साहित्य निर्माण का ही औचित्य है, अतिक्रमण वर्ज्य है।

रचनाकार और रचनाकाल

गाथाकोश के रचयिता का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, परन्तु उन्होंने अपने को श्वेताम्बर बतलाने के अतिरिक्त अपनी गच्छ परम्परा, रचनाकाल, रचनास्थान आदि न देकर केवल गुरु का नाम यशोभद्रसूरि दिया है। जैन परम्परा में इस नाम के अनेक आचार्य हुए हैं यदि इन गुरु-शिष्यों के नाम एक साथ किसी ग्रन्थ की पुष्पिका, प्रशस्ति या अभिलेख में प्राप्त हो जाए तभी असन्दिग्धतया कुछ जा सकता है अन्यथा भाषा व प्राप्त प्रतियों के आधार से ही अनुमान लगाना, असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

भगवान महावीर की परम्परा में गत पच्चीस सौ वर्षों में यशोभद्र नाम के आचार्य भिन्न-भिन्न गच्छों में अनेक हुए हैं, यहाँ हमें यशोभद्र के शिष्य वीरभद्र नाम अभीप्सित है। पादलिप्तसूरि की तरंगवती का सार वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने लिखा था जो प्राकृत की 1900 गाथाओं में है। इसका भाषान्तर जर्मन भाषा में प्रो. अर्नेष्ट लायमान ने किया। नरसी पटेल ने गुजराती में उसे जैन साहित्य संशोधक में प्रकाशित किया, पर यह काव्य इतना प्राचीन नहीं लगता और इसमें वीरभद्र के गुरु के नाम का भी अभाव है। यही बात पश्चातवर्त्ती वि.सं. 1078 की आराधनापताका गाथा 990 के रचयिता वीरभद्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार चन्द्रगच्छ के प्रद्युम्न सूरि के प्रशिष्य एवं चन्द्रप्रभ के शिष्य धनेश्वर के चार शिष्यों में से एक वीरभद्र थे जिनसे हमें प्रयोजन नहीं है। हमारा अनुमान है कि 9वीं शताब्दी के वीरभद्राचार्य जो उद्योतनसूरि के सिद्धान्त गुरु (वि.सं. 834) थे, इसके रचियता हैं जम्बूचरियं

के रचयिता गुणपाल मुनि ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि को इन्हीं वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। गुणपाल मुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि और प्रस्तुत शृंगारगाथाकोश के रचयिता यदि एक ही हो तो भी उनके गुरु का नाम यशोभद्र था, यह ज्ञात करना आवश्यक रहता है। गुणपाल मुनि की दूसरी कृति ऋषिदत्ताचरियं की त्रुटित प्रशस्ति में उन्हें नाईलवंश नामक एक प्राचीन गच्छ का लिखा है। इसमें यदि वीरभद्रसूरि के गुरु का उल्लेख यशोभद्रसूरि के रूप में मिल जाता तो ही हम निश्चय पूर्वक कुछ कह सकते थे, अन्यथा यह भी एक अनुमान ही होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति के लेखक और उसके काल के सम्बन्ध में अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है फिर भी इसकी भाषा एवं विषयवस्तु को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह लगभग ९वीं शतीं से १२वीं शती के बीच की रचना होगी। इसमें महाराष्ट्री प्राकृत के साथ-साथ कहीं-कहीं अपभ्रंश के प्रयोग भी परिलक्षित होते हैं जिससे यही फलित होता है कि यह उस काल की रचना है जब अपभ्रंश भी एक साहित्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यह भी सत्य है कि शृंगाररसपरक कृतियों का सृजन भी इसी काल में अधिक हुआ है। वैष्णव परम्परा में भी इसी काल में कृष्ण-भक्ति में शृंगाररस उन्मुक्त भाव से ग्रहण हुआ। इसी का प्रभाव जैन परम्परा पर भी आया। जैन परम्परा में इस प्रकार शृंगारिक रचनाएँ मुख्यतः भट्टारकों और यतियों के द्वारा सृजित हुई। हरिभद्र ने यतियों की इस प्रकार की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों की भर्त्सना भी की थी। यह सत्य है कि प्रस्तुत रचना भी उसी स्वच्छन्द यति परम्परा में निर्मित हुई होगी। फिर भी इसकी साहित्यिक मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस कृति के सन्दर्भ में हम यहाँ इतना ही कहकर विराम लेना चाहेंगे और अपेक्षा करेंगे कि भविष्य में विद्वज्जन इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डालेंगे।

---

* भँवरलाल नाहटा

शृंगाररसकलित गाथाकोश

नमिऊण जिणपायपउमं, सरस्सइए मरालगमणीए।
सुललियगाहाकोसं, भणामि सिंगाररसकलियं।। 1।।

1. जिनेश्वर भगवान के चरण कमल और हंसगामिनी सरस्वती को नमस्कार कर शृंगार रस से युक्त सुललित गाथा कोश का व्याख्यान करता हूँ।

ओ चिट्ठइ घरवारे ओउन्न पयोहरा विसालच्छी।
ओलग्गइ तुव दारं, ओलविय बाँहनालेहिं।। 2।।

2. वह पूर्णपयोधरा विशालाक्षी अपने गृह-द्वार पर उपस्थित नहीं रहती है, अपितु मृणाल-तुल्य बाहुओं से तुम्हारा द्वार पकड़ कर वहीं लगी (स्थित) रहती है।

न गणइ कलाकलावं, न लहइ निद्दं न जंपए वयणं।
नवकमलकोमलंगी, नहुजीवइ सुहय तुअ विरहे।। 3।।

3. वह नवकमल-कोमलांगी कला-कलाप की परवाह नहीं करती है। न तो सोती है और न बोलती ही है। हे सुभग वह तुम्हारे विरह में जीवित ही नहीं लगती है।

मयगललीलागमणी, मणहर कलहंस महुर आलावा।
मलिणमुही तव विरहे, मयर-पय वट्टए बाला।। 4।।

4. मत्तगजेन्द्र के समान गमन करने वाली एवं मनोहर कलहंस सा मधुर आलाप करने वाली बाला का मुख मलिन हो गया है। वह तुम्हारे वियोग में मछली के समान तड़प रही है। ("मयरपयं बद्धए" पाठ करने पर) अपने आँसुओं से समुद्र (मकरपद) को भी वर्द्धित करती है।

सरउज्जलससिवयणा, सारसकलहंसकोमलुल्लावा।
सवणं दोलय जुयला, सरइ तुमं मुहं य पसयच्छी।। 5।।

5. शरत्काल के उज्ज्वल चन्द्रमा के समान जिस का मुख है, जो सारस और कलहंस के समान मधुर आलाप करती है तथा जिसके श्रवणों में दो कुंडल शोभित रहते हैं वह प्रसृताक्षी (मृगाक्षी अथवा पसरी हुई आँखों वाली) तुम्हारे मुख का स्मरण करती रहती है।

धवलहरे रयवल्लहा, धवलच्छी जा तए खणं रमिया।
धम्मिल्ल गलिय कुसमा, धरइ मणं नेय तुव विरहे।। 6।।

6. जिसे रति प्रिय थी, तुमने प्रासाद में जिसके साथ क्षण भर रमण किया था और (उस समय) जिसके जूड़े के पुष्प बिखर गये थे, वह शुभ्राक्षी तुम्हारे विरह में अपने मन को धारण नहीं कर पा रही है (अधीर हो गई है)।

अमिय-ससि सम कओला, अमयमुही गुरुनियंब पभारा।
अलहंती तुय मुखं, अप्पाणं झूरए बाला।। 7।।

7. अमृतमय शशि के समान कपोलों वाली, अमृतमुखी एवं भारी नितम्ब-भार को वहन करने वाली वह बाला तुम्हारा मुख न पाकर (न देखकर) अपने को सुखा रही है (अर्थात् विरह में दुर्बल हो रही है)।

आहादं नहु इच्छइ, आलावइ नेव कीरसा लहियं।
आसासि जओ सुंदर आमुत्ती विभूसिया बाला।। 8।।

8. न आस्वाद की इच्छा करती है, न शुक और सारिका को आलाप करवाती है अर्थात् पढ़ाती है। हे सुन्दर ! उस आशरीर विभूषित बाला को आश्वस्त कर दो।

इत्तिय मत्ता नयणा इत्तिय मित्तं च तीय थण जुयलं।
इच्छइ तुव संसग्गं, इयर जणे खिवइ न हु दिट्ठी।। 9।।

9. उसके नयन इतने मतवाले हैं और दोनों स्तन इतने बड़े-बड़े हैं, कि अब वह तुम्हारा संसर्ग चाहती है, अन्य जन पर दृष्टि नहीं डालती है।

ईहंती तुव सुरयं इसंपि सुवइ[1] नेव[2] भुंजेइ।
ईसा विसाय नडिया, ईसरसुय तुहा कए बाला।। 10।।

10. वह सुरत (काम-क्रीडा) चाहती हुई न तो सोती है और न भोजन करती है। हे ईश्वर-पुत्र ! (सामन्त-पुत्र या स्वामि-पुत्र) वह बाला तुम्हारे लिये ईर्ष्या और विषाद से खिन्न है।

उनय नियंब बिंबा उमूलिय हत्थ खंभ मणं हरणा।
उजल कवोल सोहा, उक्कंठिय तुव कए बाला।। 11।।

11. जिसके नितम्ब-बिम्ब उन्नत हैं, जो स्तम्भ-तुल्य, खुले हुये बाहुओं से मन को हर लेती है और जिसके उन्नत कपोल सुशोभित होते हैं, वह बाला तुम्हारे लिये उत्कंठित है।

एग मणा पउमच्छी एरावण कुंभ विभम खणड्ढा।
एणत्थी तुव विरहे एकाहारं कुणइ बाला।। 12।।

12. जिसके नेत्र हरिण के समान हैं, जो उपयुक्त अवसर पर ऐरावत के कुम्भ और विभ्रम से समृद्ध हो जाती है। (कुम्भ को पयोधरों के द्वारा और विभ्रम को गति के द्वारा प्राप्त कर लेती है) वह पद्मिनी बाला एकाग्रमन (ध्यान में लीन) होकर तुम्हारे वियोग में एक बार भोजन करती है।

अंघघण पीणसिहणा, अंतोमुह कमल परिमलुग्गावा।
अंचइ हिमगिरि तणया, अंगय बाला कए तुज्झ।।13।।

---

१. हस्तप्रत में 'सुएइ' पाठ है। २. हस्तप्रत में 'नेइ' पाठ है।

13. हे पुत्र ! (अंगय > अंगज = पुत्र) जिसके मुख के भीतर कमल-परिमल का उद्‌गार है और जिसके पयोधर अत्यधिक पीन हैं, वह बाला तुम्हारे लिये गिरिजा की अर्चना करती है।

कलहंसलीलगमणा कवोल बालीय लुलिय विउरचया।
कमलमुही कमलसयं[1] करिगमणं जनेस मरइ।। 14।।

14. जिसकी कपोल-पाली पर चिकुर-समूह बिखर गया है, जिस की गति कलहंस के समान है वह कमलमुखी वनिता गजगामी पंकज-पाणि अर्थात् कमल तुल्य हाथों वाले (सय > शय = हाथ) पुरुष को स्मरण करती है।

खणमित्तं रमिऊणं खण तरुण वियढ जात ए मुक्का।
खण विरह दुबलंगी, खणेण खीणोयरी[2] जाया।। 15।।

15. हे क्षण-मात्र के लिये विदग्ध तरुण ! तुमने क्षणमात्र रमण करके जिसे छोड़ दिया था वह क्षणमात्र के विरह से ही दुर्बलांगी रमणी क्षणमात्र में ही क्षीणोदरी हो गई है।

गलगलिय गय गमणा गयवइ गंधग्ग गव्विय सरीरा।
गंभीर नाहिमंडल गमइ दिणं तुव कए दीणा। 16।।

16. जिसका शरीर श्रेष्ठ गन्ध से गर्वित है, जिसकी नाभि गम्भीर है वह मत्तगजगामिनी दीन प्रोषितपतिका (गयवइ > गतपति = प्रोषितपतिका) तुम्हारे लिये दिन काट रही है।

घण पीण तुंग सिहणा घण मुक्क मयंक उज्जल कवोला[3]।
घण मयण पज्झरंती घर दारं मुयइ नहु तुज्झ।। 17।।

17. जिसके स्तन घने, उन्नत एवं पीन हैं और जिसके कपोल मेघयुक्त मृगांक के समान उज्ज्वल हैं वह कामोद्रेक से स्खलित होती हुई रमणी तुम्हारा गृह-द्वार नहीं छोड़ रही है।

चउसट्ठि कला कलिया, चवलच्छी तुय मुह पलोयंती।
चचर तिगेसु कीलइ, चलंत मणि मेहल रवेण।। 18।।

18. चौंसठ कला-कलित चपलाक्षी तुम्हारा मुख देखती हुई अर्थात् तुम्हें (ढूँढती हुई) आन्दोलित मणिमेखला के शब्दों के साथ चौराहों और तिराहों पर क्रीड़ा करती है (भ्रमण करती है)।

क्षणससिकवोलं सोहा क्षट्टग्गह जल महल्ल कल्लोला।
क्षपय मंदिर वयणा क्षड्डइ नहु सुहय तुव दारं।। 19।।

---

१. हस्तप्रति में 'कमलमयं' पाठ है।
२. हस्तप्रत में 'खामोयरी' पाठ है।
३. हस्तप्रत में 'वौकेला' पाठ है।

INSTITUTE OF LANGUAGES
No. 94609

19. जिसके मुख की शोभा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है और जो भवन के षष्ठतल पर प्रचुर आनन्द (कल्लोल > किलोल) का अनुभव करती थी वह षट्पद (भ्रमर) के निवास स्थान अर्थात् कमल के समान मुखवाली-- कमलानना बाला हे सुहृदय ! तुम्हारा द्वार नहीं छोड़ रही है।

जयण छिव्व मयच्छी, जय लब्भइ कहव्व दिव्व जोएण।
जय ढक्का ता वज्जइ, जयवल्लह तिहुयणे तुज्झ।। 20।।

20. हे जगद्वल्लभ (या जयवल्लभ > विजय-प्रेमी) वह मृगाक्षी यजन (पूजा) के द्वारा ही स्पृश्य हो सकती है (अर्थात् यत्न करने पर ही उसका स्पर्श सम्भव है-- 'यजनेन यत्नेन वा छिव्वा स्पृश्या इत्यर्थः।' बिना यत्न या यजन के उसको कोई छू भी नहीं सकता है। वह कृशोदरी मृगाक्षी यदि किसी प्रकार दैवयोग से प्राप्त हो जाती है तो त्रिभुवन में तुम्हारे यश का डमरू बजने लगेगा।

झण झणिर नेउर रवा, झरंत मयणोह मुक्क सिक्कारा।
झायंती तुय सुरयं झत्ति पहुत्ता घरे तुज्झ।। 21।।

21. नुपूर के झंकार स्वर और मदन के झरते समय की अव्यक्त सीत्कार से युक्त सुरत (काम-क्रीड़ा) का ध्यान करती हुई वह शीघ्र तुम्हारे घर पहुँची।

टहटहरव सिहरोहिं टालिज्जंतीय पसुण थट्टोहिं।
टलइ मणं नहु तीए, टंकुक्कि णं कए तुज्झ।। 22।।

22. मुखर होकर टह-टह शब्द करने वाले पिशुनों के समूह द्वारा विचलित किये जाने पर भी उसका मन तुम्हारे लिये टंक भर अर्थात् थोड़ा सा भी विचलित नहीं होता है।

ठविऊण तुम्ह चित्ते ठवलइ संकेय मंदिरं बाला।
ठकुर तु हरत्तमणा ठवइ पय सुन्नं तवलच्छी।। 23।।

23. तुम्हें चित्त में स्थापित करके संकेत-स्थान को जाती है। हे स्वामी ! (अब) जिसके तप का धन (लक्ष्मी) शून्य हो चुका है, वह तुममें अनुरक्त हृदय वाली होकर (संकेत-स्थान के मार्ग पर) पाँव रखती है।

डसणु छलं तत्त किरणा डक्का मयणेण विसमकय वयणा।
डमरु सरिच्छ मज्झा, डज्झइ तुह विरहजालाहिं।। 24।।

24. जिसके दाँतों से तप्त-किरणें स्फुरित (उच्छलित) होती रहती हैं, कामदेव के दंश से जिसका मुख विषम हो गया है और जिसका मध्य भाग डमरू के समान (पतला) है वह तुम्हारी विरहाग्नि में दाग्ध हो रही है।

ढंढोलइ तुय सिज्जं ढलुहलु रोवेइ दियड्ढ तुय विरहे।
ढंढलइ मणं नहु तीए ढमेर सरिसे जणे कहवि।।25।।

25. तुम्हारी सेज ढूँढती है, तुम्हारे विरह में टप्-टप् आँसू गिराती हुई (सेज की स्मृति के कारण पहले से) ड्योढ़ा रोती है (या आधा दिन रोती ही रह जाती है।) तसले (पात्र विशेष) जैसे मनुष्य में उसका मन नहीं ढलता है। (ढालने की क्रिया साँचे में की जाती है, सर्वत्र नहीं।)

नव कणय कमल वयणा, नव चंपय कुसुम सुरहि गंधड्ढा।
नहु जीवइ तुअ विरहे, नव मयगलमत्त गयगमणी।। 26।।

26. नूतन स्वर्णिम कमल के समान मुखवाली नवीन चम्पक कुसुम की सुरभि-सुगन्ध से समृद्ध वह तरुण मत्तगज-गामिनी तुम्हारे वियोग में जीवित नहीं है (मृतवत् है।)

तयलोयडसणनिलया, तयलच्छी गुरुनियंब दुल्ललिया।
तवइ तवइ तवं तुय विरहे, तमालअल सामलाबाला।। 27।।

27. जो तीनों लोकों के दंश (डसण > दंश = पीडा) का निलय (स्थान) है। तीनों लोकों के कामियों को अपनी अप्राप्ति से दुःख देती है। जो तरलाक्षी अर्थात् चंचल नयना गुरु नितम्बों के कारण दुर्ललित (दुष्ट आदत वाली) है वह तमाल-दल-श्यामा बाला तुम्हारे वियोग में तप करती है या संतप्त हो रही है।

थणभार विणमियदेहा थल कमलणि कुसुम रत्त कर चरणा।
थंभत्थडियव सुंदर थक्का विलया कए तुज्झ।। 28।।

28. हे सुन्दर ! जिसका शरीर स्तनों के भार से नत है, जिसके कर और चरण स्थल-पद्मिनी के समान अरुण हैं; वह स्त्री (विलया) तुम्हारे लिये अहंकार (दंभ) से मुक्त होकर स्थित (थक्का) है।

दर वियसिय[1] कमलच्छी दसदिसिय सरंति कंतिया भारा।
दलइंदनीलवन्ना दमइ मणं तुह कए दीण।। 29।।

29. जिसके नेत्र किंचित विकसित कमल के समान हैं और जिस की कान्ति का समूह दशों दिशाओं में फैल रहा है, वह इन्द्रनील के खण्ड के समान मुखवाली दीन होकर तुम्हारे लिये मन का दमन (निग्रह) कर रही है।

पफुल्ल पउम वयणा पट्टंसुय विविह भूसिय सरीरा।
पच्छन्न सुरय लुद्धा पयदियहं सुवय पसयत्थी।। 30।।

30. हे सुव्रत ! वह प्रसृताक्षी प्रफुल्ल पंकजमुखी वनिता प्रतिदिन तुम्हारी प्रच्छन्न सुरत (काम-क्रीडा) से लुब्ध होकर अपना शरीर पट्टांशुक से विभूषित करती रहती है।

फलिहमणि डसण सुन्हा फुरंत मणि किरण निज्जियत्त सोहा।
फलिणीदलसमवयणा फुरइ मणं तीइ तुय विरहे।। 31।।

१. हस्तप्रत में 'वियभिय' पाठ है।

31. उस स्नुषा (बहू) के दाँत स्फटिक के समान हैं, उसने (अपने द्वारा) जीती गई चमचमाती किरणों की शोभा ग्रहण कर ली है (छीन ली है।) (अथवा उसके गात्र की शोभा स्वनिर्जित स्फुरणशील मणि के समान है।) उसका वदन प्रियंगु के समान है और उसका मन तुम्हारे विरह में काँप रहा है।

बहुविह विहियविसाला बलिदमण तणु भवेइ विहुरंगी।
बंदि खिविया स सुंदर बद्धा तुह विरह पासेहिं।।32।।

32. जिसका हृदय अनेक प्रकार से विशाल है वह चञ्चलांगी स्वच्छन्द होने पर भी तुम्हारे विरह-पाश में आबद्ध होकर मानों बन्दी-गृह में पड़ गई है और (वामन द्वारा किये गये) बलिदमन का अनुभव कर रही है अथवा बलवती पीड़ा (दमण) का अनुभव कर रही है।

भरहाहि सत्थकुसला भमरालयवयण निज्जिय मच्छंका।
भालत्थले कय तिलया भमय दिणं तुह कए मुधा!।33।।

33. जिसने भ्रमरों के समान अलकों वाले मुख से मृगांक को जीत लिया है, जो भारतादि शास्त्रों से कुशल है और जिसके भालस्थल पर तिलक है वह मुग्धा तुम्हारे लिये दिन भर भ्रमण करती रहती है।

रइ-रस-विलास-मुधा रमणत्थलगलिय समणगयमत्ता।
रमइ मणं नहु तीए रइ-रमण समं तुमे सरइ।।34।।

34. वह रति-रस और विलास से मुग्ध हो चुकी है, रमणस्थल (भोगस्थल) पर द्रवीभूत हो जाने वाले स्वमन (अपने मन के रोग) से मत्त है (अथवा रमणस्थल पर अपना मन च्युत हो जाने के कारण जिसकी मात्रा (वजन) चली गई है (घट गई है), उसका मन लग नहीं रहा है, वह कामदेव के समान तुमको स्मरण करती रहती है।

लक्खणछंदवियड्ढा लडहंगी जक्ख-कदमा विलित्ता।
लच्छिव्व कमलहत्था लब्भइ सा नहु अउंनेहि।।35।।

35. वह सुन्दरांगी लक्षण-शास्त्र और छन्द-शास्त्र में विदग्ध है, यक्षकर्दम (केसर, अगर, चन्दन, कर्पूर और कस्तूरी का लेप) से अनुलिप्त है। वह लक्ष्मी के समान कमलहस्ता (लक्ष्मी के हाथ में कमल है और उसके हाथ भी कमल के समान हैं) वह पुण्यहीनों के द्वारा अप्राप्य है।

वक्खखडिय डसण हरणा वरिं करिवर कुंभ मक्खणट्ठा।
वज्जावलिव्व डसणा वहइमणे सा तुमं बाला।।36।।

36. जो प्रस्फुटित दशनों से मनोहर है या वैसे दाँतों को धारण करती है। जो श्रेष्ठ गजकुम्भ के मथन (दलन) से समृद्ध हो चुकी है, जिसके दाँत हीरक-पंक्ति-तुल्य हैं वह बाला तुम्हें मन में धारण करती है।

हरि वरणा हरिणच्छी हरि लहरी हरिवरिव्व तणु मज्झ।
हरि वसह लील गमणा इक्कारइ सा तुमं बाला।। 37।।

37. जिसका मुख चन्द्रमा (हरि) के समान है, जिसके नयन हरिणतुल्य हैं, जो पवन (हरि) के झोंकों (लहरी) के समान (चंचल) है, श्रेष्ठ सिंह के समान जिसका मध्य भाग तनु (पतला) है और जिस का लीला गमन शिव (हरि) के वृषभ के समान है, वह बाला तुम्हें पुकार रही है।

संबोहिऊण एवं लीउं दूइइ तीइ वासहरं।
पच्छा जं तं उ क्वित अकह कहा कह कहिज्जंति।। 38।।

38. इस प्रकार सम्बोधित करके दूती के द्वारा वह (नायक) उस (नायिका) के वासगृह में लाया गया। उसके पश्चात् जो हुआ वह अकथनीय है, कैसे कहा जाये ?

पढमपयं ठवि पढमं तह बीयपयं घ बीय ठाणेसु।
तइय पयं सुकमे हुंति अणेगा उ गाहाओ।। 39।।

39. प्रथम पद प्रथम और द्वितीय पद द्वितीय स्थानों पर स्थापित कर तृतीय और चतुर्थ पदों का क्रमशः विन्यास करने पर अनेक गाथायें भी होती हैं।

वाइ-गय-कुंभ केसरि जसभद्द मुणिंद चलण भत्तेण।
रइयं गाहा कोसं सेयंबर वीरभद्देण।। 40।।

40. वादि रूपी गजों के लिये केशरी के समान यशोभद्र मुनीन्द्र के चरणभक्त (अन्तेवासी) श्वेताम्बर वीरभद्र ने इस गाथाकोश की रचना की।

---

१. हस्तप्रत में 'पच्छा जं तज्जुक्वित' पाठ है।

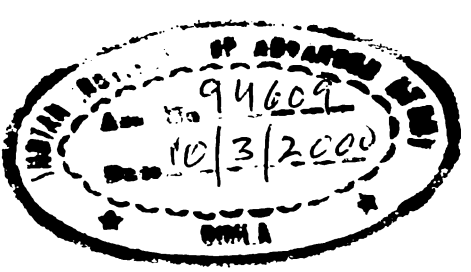

लेखक

श्री भँवरलाल जी नाहटा विलक्षण प्रतिभा के धनी एवं साहित्य जगत् के बहुश्रुत विद्वान हैं। सरस्वती और लक्ष्मी के वरदान से अभिषिक्त श्री नाहटा जी के इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व में कवि की कल्पना, इतिहासकार की अनुसंधान प्रवृत्ति, पुरातत्त्वविद्‌ की कल्पना की सूक्ष्म दृष्टि, लिपि-पण्डित की कुशाग्रता, दार्शनिक की चिन्तनशीलता एव समाज सुधार की अप्रतिम भावना का समावेश है।

आपका जन्म सन् १९११ में बीकानेर के धार्मिक संस्कारो से ओत-प्रोत नाहटा परिवार में हुआ। माता श्रीमती तीजाबाई एवं पिता श्री भैरूदान जी नाहटा के समृद्ध धार्मिक संस्कार आपको विरासत में मिले। स्व० श्री अगरचंद जी नाहटा आपके अनन्य सहयोगी एवं सगे चाचा थे। जैन शिक्षालय बीकानेर में आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। शिक्षा मात्र पाँचवीं कक्षा तक मिली। प्राय: नगण्य सी शैक्षणिक पृष्ठभूमि एवं गार्हस्थिक तथा व्यावसायिक परिवेश में रहते हुए भी आपके तप:पूत चरित्र, धार्मिक निष्ठा एवं सतत प्रयास ने आपको बहुश्रुत विद्वानों की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर दिया है। इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य और संस्कृति को आपने सहस्रों लेखों से, शतश: ग्रंथों के लेखन व सफल सम्पादन से साधा है। प्राचीन साहित्य विशेषकर जैन साहित्य और संस्कृति की अनमोल विरासत को आपने सही परिप्रेक्ष्य में विश्व के सामने प्रस्तुत करने का श्लाघनीय कार्य [illegible] की उम्र में भी आप उसी निष्ठा और ल[illegible] सन्नद्ध हैं।

Library IIAS, Shimla
S 891.3 V 815 M
00094609